

प्रवचन-११९, श्लोक-१५२-१५३, गाथा-१०८-१०९ गुरुवार, पौष शुक्ल ९,  
दिनांक २७-१२-१९७९

नियमसार, नीचे अमृतचन्द्राचार्य का श्लोक है...

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।  
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥

आलोचना का अधिकार है। आलोचना अर्थात् जानना, देखना। देखने में रहना, वह आलोचना। ज्ञान में रहना, इसका नाम आलोचना अर्थात् संवर है। भूतकाल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल का संवर और आगामी काल का प्रत्याख्यान। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान गये, अब यह वर्तमान बात है।

मोह के उदय से मोह के विलास से... आहाहा! फैला हुआ जो यह उदयमान ( -उदय में आनेवाला ) कर्म... मोहकर्म के उदय से फैला हुआ जो रागादि कर्म, उस समस्त को आलोचकर ( -उन सर्व कर्मों की आलोचना करके ),... आलोचकर अर्थात् उसे छोड़कर, आहाहा। एक ओर भगवान कर्मरहित, रागरहित ऐसे आत्मा में अन्तर आश्रय करके, कर्म से फैले हुए विकार को छोड़कर मैं निष्कर्म ( अर्थात् सर्व कर्मों से रहित ) चैतन्यस्वरूप आत्मा में... आहाहा! यह अमृतचन्द्राचार्य का समयसार में श्लोक है। चैतन्यमात्र चैतन्यस्वरूप आत्मा में... उसमें कहीं शुभभाव-अशुभभाव नहीं आया। शुभ-अशुभभाव, वह सब मोहकर्म का विस्तार है। वह आत्मा का फैलाव नहीं है, वह कर्म का फैलाव है। पुण्य-पाप, दया, दान आदि असंख्य प्रकार के विकार शुभ और असंख्य प्रकार के अशुभ, वह कर्म का विस्तार है। वह सब कर्म की प्रजा है। आहाहा! उसे आलोचकर - उसे देखकर, उसे जानकर मैं मेरे आत्मस्वरूप में, कि जो स्वरूप चैतन्यस्वरूप आत्मा है, ( उसमें वर्तता हूँ )। चैतन्यस्वरूप आत्मा है। कोई विकल्परूप या राग या दया, दान, व्रतादिरूप भगवान की भक्ति, उसरूप आत्मा है ही नहीं।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही... जो स्वभाव है, उस स्वभाव की परिणति से ही। जो चैतन्यस्वरूप है, उसकी परिणति से। जो उसमें नहीं है, उसके कारण ज्ञात नहीं होता। उसमें जो चैतन्य ज्ञानदर्शनस्वभाव है। उस चैतन्य आत्मा से आत्मा को.. आहाहा!

आत्मा में आत्मा से ही ( -स्वयं से ही ) निरन्तर वर्तता हूँ। आहाहा! आत्मा चैतन्यस्वरूप, विकार के विस्तार से रहित और अपने ज्ञानादिक के विस्तार से सहित, ऐसा जो विस्तार होता है, उसमें मैं रमता हूँ, कहते हैं। आहाहा! वह शक्तिरूप ज्ञान-दर्शन और आनन्द है, उसकी प्रतीति और रमणता द्वारा जो अन्दर विकास होता है, वह चैतन्यद्रव्य का विकास है। चैतन्यद्रव्य का वह विस्तार है। उस विस्तार में मैं रमता हूँ, कहते हैं। है ?

आत्मा से ही ( -स्वयं से ही ) निरन्तर वर्तता हूँ। आहाहा! लो, यह पंचम काल के साधु। ऐसी बात कठिन पड़ती है। साधु किसे कहना? अभी पहले सम्यग्दर्शन क्या है, इसकी खबर नहीं है। यह तो सम्यग्दर्शन, राग से रहित निर्विकल्प चैतन्य के अनुभव में प्रतीति और पश्चात् उसमें स्थिरता, इसका नाम चारित्र है। कहते हैं, उस चारित्र में मैं निरन्तर वर्तता हूँ। आहाहा! लिखने के समय यह कहते हैं कि मैं निरन्तर वर्तता हूँ, बोलते समय कहते हैं कि मैं निरन्तर वर्तता हूँ। आधे पौन सेकेण्ड थोड़ी नींद में हो, उस समय मैं तो मेरे निवृत्त में (स्वद्रव्य में वर्तता) हूँ। आहाहा! जिस स्वरूप को जानकर और उसमें रमणता हुई, वह रमणता चौबीस घण्टे निरन्तर रहती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

निरन्तर वर्तता हूँ। इसलिए कहा कि कर्म के कारण वर्तता हूँ, कर्म जरा क्षयोपशम मार्ग दिया, इसलिए मैं वर्तता हूँ - ऐसा नहीं है। आहाहा! मेरे पुरुषार्थ से ही, मेरे आत्मा के स्वभाव से, मेरा जो त्रिकाल स्वभाव है, उस स्वभाव की परिणति से मैं आत्मा में वर्तता हूँ। आहाहा! भाव ही अलौकिक है! व्यवहार के रसिक को कठिन पड़ जाए ऐसा है। इसमें कुछ व्यवहार करने का नहीं आता। व्यवहार करे तो हो, ऐसा तो आता नहीं। व्यवहार होता है। यहाँ तो निषेध करके निश्चय की स्थिरता, वह आलोचना बतलानी है। मैं तो निरन्तर इसमें वर्तता हूँ, कहते हैं। आहाहा! यह तो ९०० वर्ष पहले साधु हुए। वे स्वयं कहते हैं निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा में, आत्मा से, आत्मा से, स्वभाव में स्वभाव से, स्वभाव जो ज्ञान और आनन्दस्वभाव, उसके आनन्द और ज्ञानस्वभाव से वर्तता हूँ। आहाहा! लो, इसका नाम आलोचना, इसका नाम संवर, इसका नाम संवर-संवर। आहाहा!

दूसरा श्लोक। और उपासकाध्ययन में ( श्री समन्तभद्रस्वामीकृत रत्नकरण्ड -श्रावकाचार में १२५वें श्लोक द्वारा ) कहा है कि:—

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।

आरोपयेन्महा-व्रत-मामरण-स्थायि निःशेषम् ॥

जो कुछ मैंने किये... विकारी भाव, कराये हुए, और अनुमोदन किये... आहाहा! मेरे आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त जितने विकल्प परद्रव्य सम्बन्धी होते हैं, वे सब किये हों, कराये हों, अनुमोदन किये हों, उस सर्व पापों की निष्कपटरूप से... शुद्धस्वभाव है, अनन्त अनाकुल आनन्द का सागर है, उसे मैं कपटरहित अर्थात् है, उस प्रकार उसमें जाता हूँ। है, उस प्रकार उसमें रहता हूँ। निष्कपटरूप से आलोचना करके,... कपटरहितरूप से देखकर, जानकर। मरणपर्यन्त रहनेवाला,... आहाहा! देह छूटे, तब तक रहनेवाला। क्षणिक भी नहीं। तब तक रहनेवाला यह। निःशेष ( -परिपूर्ण ) महाव्रत धारण करना। इसका नाम महाव्रत है। यह महाव्रत हो, वहाँ स्थिरता होती है, ऐसा कहते हैं। महाव्रत उसे होता है कि जिसे स्थिरता होती है। महाव्रत तो विकल्प है। निश्चय महाव्रत है, वह आत्मा की स्वरूप स्थिरता है। व्यवहार महाव्रत है, वह स्थिरतासहित की भूमिका में शुभविकल्प है, परन्तु वह शुभविकल्प भी किसे होता है? कहते हैं। अन्तर में निश्चय दर्शन-ज्ञान हुआ हो और स्वरूप की स्थिरता भी हुई हो, अन्तर में जमा हो, उसे शुभविकल्प का महाव्रत होता है, वह पुण्यबन्ध का कारण है। निश्चयव्रत है, वह स्वरूप में स्थिर होना। वह निश्चयव्रत, वह संवर का कारण है। आहाहा!

निष्कपटरूप से आलोचना करके,... आहाहा! क्या कहते हैं? साधुपने का दिखाव करना और अन्दर में रागरहित दशा ( होवे ) नहीं, वह कपटसहित है, कहते हैं। आहाहा! यह तो कपटरहित जैसा है, वैसा। आहाहा! आलोचना करके, मरणपर्यन्त रहनेवाला,... देह छूटे, तब तक रहनेवाला। आहाहा! निःशेष ( -परिपूर्ण ) महाव्रत धारण करना। यह परिपूर्ण महाव्रत धारण करता हूँ, ऐसा वापस। आहाहा! निश्चय से महाव्रत स्थिरतारूप है। व्यवहार से महाव्रत विकल्परूप है।

श्लोक-१५२

और ( इस १०७ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं ) :—

( मन्दाक्रान्ताः )

आलोच्यालोच्य सुकृतमसुकृतंघोरसन्सारमूलं ,  
शुद्धात्मानं निरुपधि-गुणं चात्मनैवावलम्बे।  
पश्चादुच्चैः प्रकृति-मखिलां द्रव्य-कर्म-स्वरूपां,  
नीत्वा नाशं सहज-विलसद्बोध-लक्ष्मीं व्रजामि ॥१५२॥

( वीरछन्द )

जो भवमूल शुभाशुभ उनका बार-बार कर आलोचन।  
निरुपाधिक गुणमय शुद्धातम का आतम से अवलम्बन ॥  
द्रव्यकर्म की सभी प्रकृतियों का अत्यन्त विनाश करूँ।  
सहज विलसती ज्ञानलक्ष्मी को मैं सत्वर प्राप्त करूँ ॥१५२॥

[ श्लोकार्थः ] घोर संसार के मूल ऐसे सुकृत और दुष्कृत को सदा आलोच-  
आलोचकर मैं निरुपाधिक ( -स्वाभाविक ) गुणवाले शुद्ध आत्मा को आत्मा से ही  
अवलम्बता हूँ। फिर द्रव्यकर्मस्वरूप समस्त प्रकृति को अत्यन्त नष्ट करके सहज-  
विलसती ज्ञानलक्ष्मी को मैं प्राप्त करूँगा ॥१५२॥

श्लोक -१५२ पर प्रवचन

और ( इस १०७ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं ) :—

आलोच्यालोच्य सुकृतमसुकृतंघोरसन्सारमूलं ,  
शुद्धात्मानं निरुपधि-गुणं चात्मनैवावलम्बे।

पश्चादुच्चैः प्रकृति-मखिलां द्रव्य-कर्म-स्वरूपां,  
नीत्वा नाशं सहज-विलसद्बोध-लक्ष्मीं व्रजामि ॥१५२॥

[ श्लोकार्थः ] घोर संसार के मूल... आहाहा! घोर संसार के मूल... पुण्य और पाप के भाव, शुभभाव और अशुभभाव घोर संसार का मूल है। आहाहा! है? सुकृत और दुष्कृत को... सुकृत हो—भक्ति, वन्दना, मन्दिर स्थापना, उसकी प्रतिष्ठा उसका इत्यादि... लाखों लोग इकट्ठे हों, उनमें भगवान की स्तुति हो, स्तुति हो, वन्दन हो, वह सब शुभभाव सुकृत है। आहाहा!

**मुमुक्षु** : घोर संसार का मूल तो शुभाशुभ में रुचि है।

**पूज्य गुरुदेवश्री** : वह बीज ही संसार है। शुभभाव ही संसार है, स्वयं संसार है। यह कठिन बात है।

जैनधर्म—जैनधर्म, वह वीतरागभाव से उत्पन्न होता है। जैनपना, वह वीतरागभाव है। आत्मा वीतरागस्वभाव ही है। जैनधर्म, वह कोई नयी चीज़ नहीं है। वह वस्तुस्वभाव ही वीतराग है। आत्मा आत्मा से, ऐसा आया था न? वीतरागस्वभाव है, वह वीतरागभाव से स्वयं अपने को जाने, राग से या विकल्प से वह ज्ञात नहीं होता। आहाहा! बहुत धीरज चाहिए, बहुत प्रयत्न की गरज चाहिए। आहाहा! ऐसा अवसर कब आयेगा? इसे विशिष्टता लगनी चाहिए। आहाहा! अनन्त काल में कहाँ फिरते थे? कहाँ भटकते थे? कहाँ से आकर उत्पन्न हुए? इसका इसे भव का भय होना चाहिए, भव के भय का डर होना चाहिए। वह यह विचार करता है। शुभ और अशुभ दोनों। जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधे, वह भी शुभभाव है। वह संसार का मूल है, क्योंकि तीर्थकर प्रकृति बँधती है। वहाँ प्रकृति बँधती है। स्वभाव एकत्व नहीं होता। स्वभाव की एकाग्रता वहाँ नहीं है। वहाँ तो प्रकृति का बन्ध पड़ता है। जिस भाव से बन्ध पड़ता है, वह धर्म कैसे होगा? आहाहा! सहन करना कठिन पड़ता है।

**मुमुक्षु** : इसमें तो स्पष्ट लिखा हुआ है, परन्तु अन्तिम दो सौ वर्ष में कोई ऐसा स्पष्ट नहीं कह सका।

**पूज्य गुरुदेवश्री** : सबने स्पष्ट कर डाला। इन्होंने स्पष्ट कर डाला। यह तो नियमसार है न? समयसार है, पंचास्तिकाय है, अष्टपाहुड़ है। सर्वत्र स्पष्ट कर डाला है। व्यवहार का

जहाँ अधिकार हो, वहाँ व्यवहार का वर्णन आवे परन्तु वह सब जानने के लिये है। उस भूमिका में ऐसा होता है, ऐसा जानने के लिये व्यवहार से व्यवहार आदरणीय भी कहलाता है। व्यवहार से व्यवहार, व्यवहारनय से व्यवहार से पूज्य भी कहलाता है। व्यवहार से व्यवहार पूज्य; निश्चय से नहीं। आहाहा! पद्मनन्दि (आचार्य) हैं। व्यवहारनय को व्यवहार से पूज्य कहा जाता है। निश्चय से तो है नहीं। आहाहा!

**मुमुक्षु :** दोनों में से सत्य बात कौन सी है ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दोनों सत्य है। है, उसमें ऐसी सत्य है। है, परन्तु उससे होता है, यह बात मिथ्या है। निश्चय भी है और अधूरा हो, तब व्यवहार भी है। है, वह दोनों सत्य है। है, उसमें इतना। है, अपेक्षा से सत्य है, परन्तु व्यवहार से निश्चय होता है, यह बात मिथ्या है। आहाहा! ऐसी बात है।

इसलिए यहाँ कहा। पाठ में पाठ है न? देखो न! **सुकृत और दुष्कृत...** ऐसा पाठ है। सुकृत और असुकृत। शुभभाव और अशुभभाव। आहाहा! भगवान की माला गिने, वह सब शुभभाव है, धर्म नहीं। वह शुभ हो या अशुभ हो, दोनों घोर संसार का मूल है। आहाहा! शुभभाव से पुण्य बाँधकर कहाँ जाएगा? वहाँ फिर पाप बाँधकर कहाँ जाएगा? आहाहा! नरक और निगोद में... आहाहा! फिर तो कहीं पता नहीं खायेगा। मनुष्यपने में इसे सुनने को मिले, विचार करने को मिले। वहाँ तो फिर चार गति में भटकना है। आहाहा! तिर्यच का अवतार, सिंह का, बाघ का (अवतार), मरकर वापस नरक में जाए। आहाहा! दुनिया की सिफारिश वहाँ काम नहीं आती कि हमें बहुत मानते थे और गुणगान करते थे, इसलिए हम कुछ अच्छे हैं। ऐसा काम नहीं आता। आहाहा!

**सुकृत और दुष्कृत...** शुभभाव और अशुभभाव दोनों घोर संसार का मूल है। संसार में भटकने का मूल। शरीर संसार है, राग संसार है और वह शुभभाव मेरा है—ऐसा मिथ्यात्व, वह संसार है। आहाहा! उसकी बात है न? यहाँ यह बात करनी है। **सुकृत और दुष्कृत को सदा आलोच-आलोचकर...** आहाहा! सुकृत और दुष्कृत को देखकर, जानकर... आहाहा! कि यह सुकृत-शुभ है और यह अशुभ है। उन दोनों को जानकर मैं **निरुपाधिक...** मैं तो उन शुभ-अशुभरहित निरुपाधिक हूँ। शुभ और अशुभभाव तो उपाधि है, मैल है, बन्ध का कारण है। आहाहा!

मैं निरुपाधिक ( -स्वाभाविक ) गुणवाले शुद्ध आत्मा को... निरुपाधिक गुणवाला शुद्ध आत्मा, अन्दर पवित्र प्रभु पुण्य और पाप के परिणाम से रहित ( मौजूद है ) । आहाहा ! कैसे जँचे ? अभी तो शरीर से भिन्न है या नहीं, यह बात भी जँचना कठिन पड़ती है । शरीर और आत्मा एक होकर बैठा है अन्दर । शरीर चले तो आत्मा चलता है, शरीर बोले तो आत्मा बोले, शरीर में दुःख हो तो मुझे होता है, शरीर में रोग हो तो मुझे रोग होता है । इस शरीर की दशा को जो आत्मा मानता है, अब उसे रागरहित आत्मा ( कैसे जँचे ) ? आहाहा ! उसे बहुत अवसर चाहिए । पुरुषार्थ का-निवृत्ति का ( बहुत चाहिए ) । आहाहा !

मैं निरुपाधिक ( -स्वाभाविक )... निरुपाधिक की व्याख्या की । ( -स्वाभाविक ) गुणवाले... वे शुभ और अशुभभाव वे स्वाभाविक नहीं हैं; वे विभाविक हैं । शुभ और अशुभभाव, वह विभाविक । यह ( -स्वाभाविक ) गुणवाले शुद्ध आत्मा को आत्मा से ही अवलम्बता हूँ । शुद्ध आत्मा को... आहाहा ! पवित्र आत्मा आनन्द का नाथ महाप्रभु आनन्द का अतीन्द्रिय सागर भरा है । उसे-अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ को, अतीन्द्रिय आनन्द से... आहाहा ! आत्मा से ही अवलम्बता हूँ । शुद्ध आत्मा को आत्मा से ही अवलम्बता हूँ । राग से आत्मा का अवलम्बन नहीं होता और दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से आत्मा का अवलम्बन नहीं लिया जाता । वह तो विकार है । आहाहा ! अभी तो शुभभाव, बस । शुभभाव... शुभभाव... शुभभाव... धमाल-धमाल बड़ी । यहाँ तो कहते हैं, अन्दर में समा जाने की बात है । बाहर में जितने विकल्प उठें, वे सब बन्ध के कारण हैं । आहाहा ! चाहे तो मन्दिर बनावे, लाख, पचास लाख, करोड़ खर्च करे, उसमें राग की मन्दता होवे तो शुभ है, पुण्य है; धर्म-बर्म नहीं । उससे धर्म नहीं होता । आहाहा ! कठिन बात है । फिर...

आत्मा को आत्मा से ही अवलम्बता हूँ । आत्मा को आत्मा से अर्थात् वीतरागभाव से, ऐसा । रागभाव से नहीं । वीतरागस्वरूप को वीतरागभाव से अवलम्बता हूँ । आहाहा ! आत्मा वीतरागमूर्ति प्रभु है । त्रिकाली वीतराग चैतन्य प्रतिमा है, उसे मैं वीतरागभाव से नमता हूँ । आहाहा ! उसे अवलम्बन करता हूँ । वीतरागभाव को वीतरागभाव से अवलम्बन करता हूँ । आहाहा ! वीतरागभाव को राग से अवलम्बन हो, ऐसा नहीं होता । आहाहा ! ऐसा कठिन काम । अभी तो शुभ के लिये निवृत्ति नहीं मिलती, उसके बदले यहाँ कहते हैं कि



शुभ करे वह संसार है। वह आत्मा नहीं। वह तो उपाधि है। उपाधि अर्थात् स्वभाव नहीं। आहाहा! इसलिए आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, वीतरागमूर्ति निर्विकल्पस्वरूप है, मैं उसका अवलम्बन करता हूँ। **आत्मा को आत्मा से ही...** स्वयं वीतरागभाव को वीतरागभाव से ही। देखो! **से ही...** है। एकान्त है। कथंचित् राग से भी आत्मा को अवलम्बता है और कथंचित् वीतरागभाव से आत्मा को अवलम्बता है, ऐसा कथंचित् नहीं है। बहुत समय से यह चलता है न! कथंचित् राग से भी होता है, कथंचित् वीतरागता से होता है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा को आत्मा से ही। आहाहा!

फिर द्रव्यकर्मस्वरूप समस्त प्रकृति को अत्यन्त नष्ट करके... द्रव्यकर्म और भावकर्म को नष्ट करके। फिर द्रव्यकर्मस्वरूप समस्त प्रकृति... १४८ (प्रकृति) अत्यन्त नष्ट करके... फिर से प्रकृति आवे नहीं, बँधे नहीं, इस प्रकार से। सहज-विलसती ज्ञानलक्ष्मी को मैं प्राप्त करूँगा। आहाहा! आत्मा को आत्मा से अवलम्बन करते हुए... आहाहा! द्रव्यकर्म का नाश करके मैं सहज ज्ञानविलसती ज्ञानलक्ष्मी आत्मा के अन्दर भरी है। ज्ञान ज्ञानस्वरूप अन्दर पूर्ण भरा है। उस ज्ञानलक्ष्मी को मैं प्राप्त करूँगा। ऐसा निश्चय किया है। मैं प्राप्त करूँगा। मुनि छद्मस्थ हैं, पंचम काल के हैं। आहाहा! आत्मा अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द, उस अतीन्द्रिय आनन्द की दशा से अतीन्द्रिय आनन्द ज्ञात हो, ऐसा है। इन्द्रिय के विषय और राग से वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसलिए कहते हैं, मैं तो द्रव्यकर्म का नाश करके, समस्त प्रकृतियों का अत्यन्त नाश (करके) वापस अत्यन्त नाश, (ऐसा कहा है)। सभी प्रकृतियों का और अत्यन्त नाश करके, मूल में से उखाड़ डालकर सहज-विलसती ज्ञानलक्ष्मी को... सहज स्वरूप ज्ञान और आनन्द लक्ष्मी भगवान में भरी है, उसे मैं प्राप्त करूँगा... यह आलोचना। आहाहा! अन्दर में निधान भरा है। आत्मा अर्थात् अन्तर आनन्द और ज्ञान का निधान है। उस निधान पर नजर जाने से स्थिरता होती है, उसमें मैं रहूँगा। आहाहा! ऐसा कहते हैं। जो रागादि होते हैं, उन्हें मैं छोड़ देता हूँ।



## गाथा-१०८

आलोचणमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी य ।  
 चउविहमिह परिकहियं आलोचणलक्खणं समए ॥१०८॥  
 आलोचनमालुञ्छनमविकृतिकरणं च भावशुद्धिशच ।  
 चतुर्विधमिह परिकथितं आलोचन-लक्षणं समये ॥१०८॥

आलोचनालक्षणभेदकथनमेतत् । भगवदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसकलजनताश्रुतिसुभग-  
 सुन्दरानन्दनिष्यन्दनक्षरात्मकदिव्यध्वनिपरिज्ञानकुशलचतुर्थज्ञानधरगौतममहर्षिमुखकमल-  
 विनिर्गतचतुरसन्दर्भगर्भीकृतराद्धान्तादिसमस्तशास्त्रार्थसार्थसारसर्वस्वीभूतशुद्धनिश्चयपरमा-  
 लोचनायाश्चत्वारो विकल्पा भवन्ति । ते वक्ष्यमाणसूत्रचतुष्टये निगद्यन्त इति ।

है शास्त्र में वर्णित चतुर्विधरूप में आलोचना ।  
 आलोचना, अविकृतिकरण, अरु शुद्धता, आलुंछना ॥१०८ ॥

अन्वयार्थ : [ इह ] अब, [ आलोचनलक्षणं ] आलोचना का स्वरूप  
 [ आलोचनम् ] <sup>१</sup>आलोचन, [ आलुंछनम् ] <sup>२</sup>आलुंछन, [ अविकृतिकरणम् ]  
<sup>३</sup>अविकृतिकरण [ च ] और [ भावशुद्धिः च ] <sup>४</sup>भावशुद्धि [ चतुर्विधं ] ऐसे चार  
 प्रकार का [ समये ] शास्त्र में [ परिकथितम् ] कहा है ।

टीका : यह, आलोचना के स्वरूप के भेदों का कथन है ।

भगवान् अरहन्त के मुखारविन्द से निकली हुई, ( श्रवण के लिए आयी हुई )

१. स्वयं अपने दोषों को सूक्ष्मता से देख लेना अथवा गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना सो व्यवहार-आलोचन है । निश्चय-आलोचन का स्वरूप १०९ वीं गाथा में कहा जाएगा ।
२. आलुंछन=( दोषों का ) आलुंछन अर्थात् उखाड़ देना वह ।
३. अविकृतिकरण=विकाररहितता करना वह ।
४. भावशुद्धि=भावों को शुद्ध करना वह ।

सकल जनता को श्रवण का सौभाग्य प्राप्त हो ऐसी, सुन्दर-आनन्दस्यन्दी ( सुन्दर-आनन्द झरती ), अनक्षरात्मक जो दिव्यध्वनि, उसके परिज्ञान में कुशल चतुर्थज्ञानधर ( मनःपर्ययज्ञानधारी ) गौतम महर्षि के मुखकमल से निकली हुई जो चतुर वचन रचना, उसके गर्भ में विद्यमान राद्धान्तादि ( -सिद्धान्तादि ) समस्त शास्त्रों के अर्थसमूह के सार-सर्वस्वरूप शुद्ध-निश्चय-परम-आलोचना के चार भेद हैं। वे भेद अब आगे कहे जानेवाले चार सूत्रों में कहे जाएँगे।

---

गाथा -१०८ पर प्रवचन

---

गाथा १०८।

आलोचनमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी य।

चउविहमिह परिकहियं आलोचनलक्खणं समए ॥१०८॥

है शास्त्र में वर्णित चतुर्विधरूप में आलोचना।

आलोचना, अविकृतिकरण, अरु शुद्धता, आलुंछना ॥१०८ ॥

टीका : यह, आलोचना के स्वरूप के भेदों का कथन है। आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु कैसी है, उसे देखना, जानना। वह अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर, दूसरी चीज़ को वह जाने-देखे। उसमें रहे नहीं, स्थिर न हो। स्थिर आत्मा में हो, उसका नाम यहाँ आलोचना है, उसका नाम संवर है। यह आलोचना के स्वरूप के भेदों का कथन है।

भगवान अरहन्त के मुखारविन्द से निकली हुई,... आहाहा! मुनिराज स्वयं कहते हैं। भगवान अरहन्त के मुखारविन्द... मुखरूपी अरविन्द-कमल। भगवान अरिहन्त के मुखरूपी कमल से निकली हुई, ( श्रवण के लिए आयी हुई )... आहाहा! सकल जनता को श्रवण का सौभाग्य प्राप्त हो ऐसी,... आहाहा! सर्वज्ञ की वाणी होती है, वह सौभाग्य प्राणी हो, उन्हें मिलती है। आहाहा! भाग्यवन्त को मिलती है। त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव की जो वाणी—ॐध्वनि-दिव्यध्वनि, वह तो भाग्यवान को मिलती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

ऐसा जो सौभाग्य प्राप्त हो ऐसी, सुन्दर-आनन्दस्यन्दी ( सुन्दर-आनन्द झरती ), अनक्षरात्मक जो दिव्यध्वनि,... आहाहा! सुन्दर आनन्द झरती... वाणी, हों! दिव्यध्वनि।

आनन्द में आनन्द का कथन आता है। आनन्द का कथन आता है न ? इसलिए ( सुन्दर-आनन्द झरती ), अनक्षरात्मक... जिसमें अक्षर नहीं। अपने जो भाषा बोली जाती है, वह नहीं। वहाँ ओमध्वनि है ' ॐकारध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारै, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारै।' पूरे शरीर में से ॐ छूटता है, ॐ। होंठ बन्द होते हैं, कण्ठ हिलता नहीं। ॐ ऐसी आवाज ( निकलती है )। कैसा है ओम ? अनक्षरात्मक। अक्षर स्वरूप नहीं। ओम है, वह अनक्षर है। ऐसी दिव्यध्वनि,... ऐसी भगवान की दिव्यध्वनि... आहाहा! साक्षात् तीर्थकर त्रिलोकनाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि - आवाज। आहाहा!

मुखारविन्द से निकली हुई, ( श्रवण के लिए आयी हुई ) सकल जनता को श्रवण का सौभाग्य... जनता को सुनने के लिये मिलता हो, वह सौभाग्य है, कहते हैं। आहाहा! प्राप्त हो ऐसी, सुन्दर-आनन्दस्यन्दी ( सुन्दर-आनन्द झरती ), अनक्षरात्मक जो दिव्यध्वनि,... आहाहा! अनक्षर ध्वनि में आनन्द का स्वरूप आता है, ऐसा कहते हैं। दिव्यध्वनि में। और श्रोता को भी इस प्रकार से अतीन्द्रिय आनन्द आत्मा की बात करते हैं। मुख्यरूप से आनन्द की ध्वनि है। दिव्यध्वनि, वह मुख्य आनन्द की ध्वनि है और सुननेवाला भी उसमें से छाँटकर आनन्द को छाँटता है। भगवान अतीन्द्रिय आनन्द कराना चाहते हैं। आहाहा! दूसरी सब बातें निकाल डालीं।

सुन्दर-आनन्दस्यन्दी ( सुन्दर-आनन्द झरती ), अनक्षरात्मक जो दिव्यध्वनि,... आहाहा! ऐसी जो वाणी, उस वाणी को यहाँ आनन्दस्यन्दी कहा। क्योंकि वह तो निमित्त है, परन्तु सुननेवाले को अतीन्द्रिय आनन्द स्वयं से प्रगट होता है, इसलिए निमित्त को भी अनन्त आनन्दस्यन्दी, ऐसा है। वह अनन्त आनन्द देनेवाली वाणी है, ऐसा कहा। आहाहा! और उसके सुननेवाले का सौभाग्य है। वह आत्मा की वाणी सुनना, यह तो सौभाग्यवन्त को मिलता है, कहते हैं। आहाहा!

सुन्दर-आनन्दस्यन्दी, अनक्षरात्मक... भगवान को ऐसी ( हमारी जैसी ) वाणी नहीं होती। केवल ( ज्ञान ) होवे तो होंठ बन्द होते हैं, कण्ठ नहीं हिलता, पूरे शरीर में से ॐध्वनि निकलती है। ॐध्वनि शरीर में से निकलती है। उसे यहाँ अनक्षरात्मक कहा है। वह दिव्यध्वनि।

उसके परिज्ञान में कुशल... दिव्यध्वनि के परि अर्थात् समस्त प्रकार से ज्ञान में

कुशल। आहाहा! ऐसे ज्ञान में कुशल। चतुर्थज्ञानधर... चार ज्ञान के धारक। (मनःपर्ययज्ञानधारी)... मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान (इन) चार ज्ञान के धारक। गौतम महर्षि के मुखकमल से निकली हुई... आहाहा! गौतम महर्षि सन्त-मुनि के मुखकमल से निकली हुई जो चतुर वचन रचना,... गौतम ने रचना की है न? ॐध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारै रचि आगम उपदेश.... वाणी में से आगम रचते हैं, वे आगम सुनकर 'भव्य जीव संशय निवारै।' आहाहा! ऐसे जो गौतम महर्षि के मुखकमल से निकली हुई जो चतुर वचन रचना, उसके गर्भ में विद्यमान राद्धान्तादि (-सिद्धान्तादि)... उनकी वाणी में रहे हुए सिद्धान्त। आहाहा! द्रव्यानुयोग आदि के सिद्धान्त उनकी वाणी में रहे हैं। जो वस्तु सिद्ध हो गयी है, सिद्ध है, सत्य है, बराबर है—ऐसे सिद्धान्त उनकी वाणी में निकलते हैं।

समस्त शास्त्रों के अर्थसमूह के सार... आहाहा! चारों अनुयोग के शास्त्रों के अर्थसमूह। उनके अर्थ का सब समूह। उसका सार-सर्वस्वरूप शुद्ध-निश्चय-परम-आलोचना के... आहाहा! शुद्ध निश्चय आत्मा का आलोचन। अन्तर्मुख प्रभु को देखने के लिये का और राग को भिन्न करने का आलोचन। धर्मी को शुद्ध-निश्चय-परम-आलोचना के चार भेद हैं। भगवान के मुख से निकले हुए हैं और गौतम ने यह रचा है। आलोचना के चार प्रकार। वे भेद अब आगे कहे जानेवाले चार सूत्रों में कहे जाएँगे। आहाहा!

नीचे है न? स्वयं अपने दोषों को सूक्ष्मता से देख लेना अथवा गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना, सो व्यवहार-आलोचन है। वह विकल्प है और शुभभाव है। आहाहा! अपने दोषों का गुरु के निकट प्रायश्चित्त लेना, आलोचना करना, वह व्यवहार है। निश्चय-आलोचन का स्वरूप १०९ वीं गाथा में कहा जाएगा। अन्दर आगे आयेगा, १०८ के बाद। निश्चय-आलोचन तो अन्दर का स्वरूप है। बात यह है कि सार में सार चैतन्यतत्त्व है। उस तत्त्व की जिसे महिमा नहीं, उसे यह पुण्य और पाप की महिमा तथा उसके फल की, बाहर की सामग्री की महिमा है। उसमें वह रच-पच गया है। अन्दर की बात एक ओर रह गयी। आत्मा स्वयं जो महाप्रभु अन्दर है, उसकी प्रभुता अन्दर रह गयी और महिमा दी है पर में, या पुण्य में या पाप में, या पुण्यफल में। यह महाराजा है, महारानी है, सेठ है, सेठ की बहू है—ऐसे सब भिखारियों को माहात्म्य दिया

और बादशाह को भिखारी माना। आहाहा! पैसेवाला हो, इज्जतवाला हो तो ओहोहो! गजब इज्जत! गजब पैसेवाला है!

यह तो समस्त शास्त्रों के अर्थसमूह के सार-सर्वस्वरूप शुद्ध-निश्चय-परम-आलोचना के चार भेद हैं। वे भेद अब आगे कहे जानेवाले चार सूत्रों में कहे जाएँगे। कलश है। कलश है न?



श्लोक-१५३

[ अब, इस १०८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं: ]

( इन्द्रवज्रा )

आलोचना-भेद-ममुं विदित्वा मुक्त्यङ्गना-सङ्गम-हेतुभूतम्।  
स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीवः तस्मै नमः स्वात्मनि निष्ठिताय ॥१५३॥

( वीरछन्द )

मुक्ति अंगना-संगम हेतु आलोचन भेदों को जान।  
भव्य निजातम में थिर होते स्वात्मनिष्ठ को करूँ प्रणाम ॥१५३॥

[ श्लोकार्थः ] मुक्तिरूपी रमणी के संगम के हेतुभूत ऐसे इन आलोचना के भेदों को जानकर जो भव्य जीव वास्तव में निज आत्मा में स्थिति प्राप्त करता है, उस स्वात्मनिष्ठित को ( -उस निजात्मा में लीन भव्य जीव को ) नमस्कार हो ॥१५३॥

श्लोक -१५३ पर प्रवचन

आलोचना-भेद-ममुं विदित्वा मुक्त्यङ्गना-सङ्गम-हेतुभूतम्।  
स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीवः तस्मै नमः स्वात्मनि निष्ठिताय ॥१५३॥

आहाहा! मुक्तिरूपी रमणी के संगम के हेतुभूत... आहाहा! मोक्ष अर्थात् आत्मा की निर्मल आनन्ददशा। निर्मल अतीन्द्रिय आनन्द की दशा, वह मोक्ष। वह मोक्ष, वह

मुक्तिरूपी स्त्री । मोक्षरूपी स्त्री । कहाँ से आया ? प्रकाश आया ? ऊपर का आया । धूप का आया । धूप का प्रकाश दिखता है... प्रकृति का धूप । बहुत स्पष्ट दिखता है ।

**मुक्तिरूपी रमणी के संगम के हेतुभूत...** अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ वह मोक्ष । अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द आत्मा का स्वभाव, उस अतीन्द्रिय आनन्द की व्यक्तता-प्रगटता का लाभ, वह मोक्ष है । ऐसे मोक्ष के-मोक्षरूपी स्त्री का संगम अर्थात् संयोग, उसके हेतुभूत । उसका-मोक्षलक्ष्मी का सम्बन्ध होना, उसका हेतुभूत ऐसे इन आलोचना के भेदों को जानकर जो भव्य जीव वास्तव में निज आत्मा में स्थिति प्राप्त करता है,... वास्तव में निज आत्मा में स्थिति पाता है । सब जानकर वापस यह करना है । अन्तर चैतन्य हीरा, चैतन्यरूपी महामाणिक है । आहाहा ! ऐसे चैतन्य हीरा पर स्थिति करके... आहाहा ! स्थिति पाता है ।

**जो भव्य जीव वास्तव में निज आत्मा में स्थिति प्राप्त करता है, उस स्वात्मनिष्ठित को...** निजात्मा में लीन भव्य जीव को - निष्ठित को । **स्वात्मनिष्ठित को ( -उस निजात्मा में लीन भव्य जीव को ) नमस्कार हो ।** यह मुनिराज को भी प्रमोद आया है । अहो ! जो कोई अन्तर आत्मा आनन्दस्वरूप में जो स्थिति को प्राप्त है । आहाहा ! और उसके हेतुभूत आलोचना करके निज आत्मा में स्थिति पाता है, उसे हमारा नमस्कार ! आहाहा ! अलौकिक बात है । आहाहा ! यहाँ शुभ की तो इसमें बात भी नहीं है । बात है, वह ऐसी कि सुकृत है, वह संसार का कारण है । कितने ही पण्डित यह कहते हैं कि जरा शुभ करो । चरणानुयोग में उसे करने का आता है । वह करने का कहा है, वह तो अन्दर आता है, वह जानने के लिये, व्यवहार से जानने के लिये कहा है । आहाहा ! भगवान परमानन्द की मूर्ति अन्दर, उसे तो व्यवहार स्पर्श भी नहीं करता । व्यवहार को निश्चय स्पर्श भी नहीं करता । निश्चय में तो व्यवहार का अभाव है । जिस चीज़ का अभाव है, उसके भाव से आत्मा को क्या होगा ? जिस भाव का आत्मा में अभाव है, उस भाव से आत्मा को क्या लाभ होगा ? जिस भाव का भाव अन्तर में है, उस भाव से आत्मा को लाभ होगा । आत्मा का यह वीतरागभाव है, आनन्दभाव है । यह कहा न ? आनन्द कहा न ? अनन्त आनन्द निष्ठित को । आहाहा !

**स्वात्मनिष्ठित को ( -उस निजात्मा में लीन भव्य जीव को ) नमस्कार हो ।** आहाहा ! ऐसे मुनिराज को हम नमस्कार करते हैं । पहले आया था न ? सुन्दर आनन्दस्यन्दि ।

सुन्दर आनन्दस्यन्दि । सुन्दर आनन्द झरता । ओहोहो ! जैसे पर्वत में से पानी झरता है, वैसे भगवान पर दृष्टि देने से आनन्द झरता है, ऐसा कहते हैं । आत्मा तीन लोक का नाथ अन्दर स्वयं भगवान है । उस पर नजर देने से आनन्द झरता है । पर्वत पर पानी पड़ने से पानी झरता है । यह भगवान आत्मा भी अतीन्द्रिय आनन्द का पर्वत है । अरे रे.. ! आहाहा !

अरे.. ! इसकी दशा एक काई में जाए, काई में जाए । नीम के एक टुकड़े में असंख्य शरीर, एक शरीर में अनन्त जीव । परन्तु वह भले अवगाहना छोटी हो परन्तु वह तत्त्व आत्मा है या नहीं ? फूल या लहसुन या प्याज का एक राई जितना टुकड़ा लो, उसमें असंख्य तो शरीर हैं; एक-एक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव हैं । एक-एक जीव को कार्मण और तैजस शरीर दो हैं । उस जीव की अनन्त शक्ति है । क्षेत्र से छोटा है । स्वभाव को क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है । स्वभाव को भाव की सामर्थ्यता की आवश्यकता है । आहाहा ! एकेन्द्रिय जीव भी अनन्त सामर्थ्यवाले हैं । यह तो आ गया न ? सर्वत्र आत्मा ही है । पर्याय छोड़ दे तो सर्वत्र आत्मद्रव्य तो ऐसा का ऐसा त्रिकाल रहा है । भले काई में गया हो या एक चींटी में गया हो और कसाईखाने में गया हो । हजारों भैंसों काटनेवाले कारखाने में ( गया हो ) । वह सब पर्याय में है । द्रव्य तो त्रिकाल निरावरण अन्दर पूरा पड़ा है । आहाहा ! किस प्रकार से बात बैठाना ? एक समय की पर्याय, उसमें यह सब पाप और पुण्य है न, सब है । वस्तु है, वह तो अत्यन्त पाप और पुण्य से निराली चैतन्यधातु मुख्य वस्तु है । आहाहा !



## गाथा-१०९

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं ।  
आलोयणमिदि जाणह परम-जिणंदस्स उवएसं ॥१०९॥

यः पश्यत्यात्मानं समभावे सन्स्थाप्य परिणामम् ।

आलोचनमिति जानीहि परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ॥१०९॥

इहालोचनास्वीकारमात्रेण परमसमताभावनोक्ता । यः सहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथडिण्डीर-  
पिण्डपरिपाण्डुरमण्डनमण्डलीप्रवृद्धिहेतुभूतराकानिशीथिनीनाथः सदान्तर्मुखाकारमत्यपूर्वं  
निरञ्जननिजबोधनिलयं कारणपरमात्मानं निरवशेषेणान्तर्मुखस्वस्वभावनिरतसहजावलोकनेन निरन्तरं  
पश्यति; किं कृत्वा ? पूर्वं निजपरिणामं समतावलम्बनं कृत्वा परमसंयमीभूत्वा तिष्ठति;  
तदेवालोचनास्वरूपमिति हे शिष्य त्वं जानीहि परमजिननाथस्योपदेशात् इत्यालोचनाविकल्पेषु  
प्रथमविकल्पोऽयमिति ।

समभाव में परिणाम स्थापे और देखे आतमा ।

जिनवर वृषभ उपदेश में वह जीव है आलोचना ॥१०९॥

अन्वयार्थः [ यः ] जो ( जीव ) [ परिणामम् ] परिणाम को [ समभावे ] समभाव  
में [ संस्थाप्य ] स्थापकर [ आत्मानं ] ( निज ) आत्मा को [ पश्यति ] देखता है,  
[ आलोचनम् ] वह आलोचन है [ इति ] ऐसा [ परमजिनेन्द्रस्य ] परम जिनेन्द्र का  
[ उपदेशम् ] उपदेश [ जानीहि ] जान ।

टीका : यहाँ आलोचना के स्वीकारमात्र से परमसमताभावना कही गयी है ।

सहज वैराग्यरूपी अमृतसागर के फेन-समूह के श्वेत शोभामण्डल की वृद्धि  
के हेतुभूत पूर्ण चन्द्र समान ( अर्थात् सहज वैराग्य में ज्वार लाकर उसकी उज्वलता  
बढ़ानेवाला ) जो जीव सदा अन्तर्मुखाकार ( -सदा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है  
ऐसे ), अति अपूर्व, निरंजन निजबोध के स्थानभूत कारणपरमात्मा को निरवशेषरूप

से अन्तर्मुख निज स्वभावनिरत सहज-अवलोकन द्वारा निरन्तर देखता है ( अर्थात् जो जीव कारणपरमात्मा को सर्वथा अन्तर्मुख ऐसा जो निज स्वभाव में लीन सहज-अवलोकन उसके द्वारा निरन्तर देखता है—अनुभवता है ); क्या करके देखता है ? पहले निज परिणाम को समतावलम्बी करके, परसंयमीभूतरूप से रहकर देखता है; वही आलोचना का स्वरूप है ऐसा, हे शिष्य! तू परम जिननाथ के उपदेश द्वारा जान।—ऐसा यह, आलोचना के भेदों में प्रथम हुआ।

---

गाथा -१०९ पर प्रवचन

---

गाथा १०९।

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं ।  
 आलोयणमिदि जाणह परम-जिणंदस्स उवएसं ॥१०९॥  
 समभाव में परिणाम स्थापे और देखे आतमा ।  
 जिनवर वृषभ उपदेश में वह जीव है आलोचना ॥१०९॥

जिनवरवृषभ का यह उपदेश है। आहाहा! मुनियों को भी ऐसा लिखना पड़ता है। कुन्दकुन्दाचार्य को। मुनि स्वयं कहे, वह सत्य है परन्तु दुनिया को आस्था कराने के लिये (कहते हैं), 'परम-जिणंदस्स उवएसं' यह उपदेश परम जिनेन्द्र का है। तीर्थकरदेव त्रिलोकनाथ का यह उपदेश है। आहाहा! अभ्यास नहीं, इसलिए इसे कठिन लगता है, तो भी कहते हैं, उपदेश तो जिनवर का है। यह कहीं साधारण छद्मस्थ का नहीं। आहाहा!

यहाँ आलोचना के स्वीकारमात्र से... आलोचना अर्थात् अन्दर आत्मा का आनन्दस्वरूप और राग का दुःखस्वरूप, दो की आलोचना करने पर - दो को भिन्न करने पर। आहाहा! आलोचना के स्वीकारमात्र से परमसमताभावना कही गयी है। परमसमताभाव। आहाहा! राग के विकल्प से भिन्न ऐसी समता। राग तो विषम है। उससे भिन्न अन्तर परमात्मा को, स्वयं परमात्मा है, उसका अवलोकन करने से समताभाव प्रगट होता है। तो वह समताभावना कहने में आती है। आलोचना में समताभाव कहा जाता है। यहाँ समता शुद्ध उपयोगरूप है। आहाहा! समझ में आया? वह समता साम्यरूप है। समता

स्वास्थ्यरूप है। आत्मा का स्वास्थ्य / निरोगता। रागादि तो आत्मा का रोग है। आहाहा! स्वास्थ्य। राग के रोगरहित अन्दर भगवान आत्मा स्वास्थ्य है। स्वस्थ—अपने में रहनेवाला स्वरूप है। और शुद्ध उपयोगी है। आहाहा!

सहज वैराग्यरूपी अमृतसागर के फेन-समूह के श्वेत शोभामण्डल की वृद्धि के हेतुभूत... आहाहा! भाषा (देखो)! पूर्ण चन्द्र समान ( अर्थात् सहज वैराग्य में ज्वार लाकर उसकी उज्वलता बढ़ानेवाला ) जो जीव सदा अन्तर्मुखाकार ( -सदा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसे ), अति अपूर्व, निरंजन निजबोध के स्थानभूत कारणपरमात्मा को... यहाँ है मूल। यहाँ सबको ले जाना है। सहज वैराग्यरूपी अमृतसागर के फेन... जैसे समुद्र में फेन होता है न? क्या कहते हैं? क्या कहा जाता है उसे? अम्बर... अम्बर... अम्बर... अम्बर कहा जाता है। ४०-५०-६० रुपये का तोला। पूरा चार मण नहीं दे तो एक थैलियाँ दे तो देता। वाडीभाई! वाडीभाई! नथुभाई पोरबन्दरवाला। वह जाये रास्ते में, वे मिले अम्बरवाले। मण, दो मण लावे। उसे थैलियाँ दे। खजूर की थैलियाँ। प्रसन्न-प्रसन्न हो। ५०-६० रुपये का एक तोला। ऐसी एक थैली चार मण की हो। उसकी कीमत। दो मण-चार मण फेन ले आवे और वे देते थे। वह देनेवाला प्रसन्न होता। ओहो! सेठ ने बहुत अच्छा दिया। कीमत नहीं होती कि यह क्या चीज़ है? अम्बर चीज़ है। अम्बर कहा जाता है उसे। वह फेन अम्बर होता है। आहाहा!

इसी प्रकार यहाँ सहज वैराग्यरूपी अमृतसागर के फेन... आहाहा! सहज वैराग्यरूपी... अर्थात् सहज वैराग्य क्यों कहा? - कि स्त्री-पुत्र छोड़कर साधु हो, इसलिए वैरागी है, ऐसा नहीं है। ऐसा तो अनन्त बार किया। पुण्य और पाप के दो भावों को छोड़कर रक्त होकर विरक्त हो, उसे वैरागी कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? सहज स्वाभाविक वैराग्य, ऐसा कहा न? वह तो कृत्रिम वैराग्य है - श्मशान वैराग्य कहते हैं न? श्मशान वैराग्य। लोग ( मुर्दे को ) जलावें, तब ऐसा हो जाता है कि आहाहा! श्मशान है। घर में वापस लहर करता हो। और भूल जाता है। आहाहा!

सहज वैराग्य। अन्दर से पुण्य और पाप के भाव से विरक्त और स्वरूप में रक्त, उसे यहाँ वैराग्य कहने में आता है। आहाहा! शुभ और अशुभभाव से रहित, विरक्त अनन्त आनन्दस्वरूप भगवान में रक्त, उसे यहाँ वैराग्य कहने में आता है। ऐसे सहज वैराग्यरूपी

अमृतसागर के फेन... आहाहा! अमृतसागर के फेन। समुद्र में फेन होता है उसे... क्या कहा वह? अम्बर। यह फेन-समूह के श्वेत शोभामण्डल की वृद्धि... आहाहा! उस फेन का समूह वह श्वेत-सफेद शोभामण्डल की वृद्धि के हेतुभूत पूर्ण चन्द्र समान... आहाहा! भाषा कम पड़ जाती है न! अन्दर कहते हैं कि कैसा है भगवान? कि जहाँ भाषा काम करती नहीं, जहाँ विकल्प काम करता नहीं। आहाहा! ऐसा प्रभु निर्विकल्प अन्दर पड़ा है। उसे अमृतसागर के फेन-समूह के श्वेत शोभामण्डल की वृद्धि... क्षण-क्षण में उसकी शोभा की वृद्धि होती है। उसके हेतुभूत पूर्ण चन्द्र समान ( अर्थात् सहज वैराग्य में ज्वार लाकर उसकी उज्वलता बढ़ानेवाला )... ऐसा कहा न? जो जीव सदा अन्तर्मुखाकार... आहाहा! अन्तर्मुखाकार। अन्तर्मुख भगवान है। अन्तर्मुख देखने पर भगवान है। बहिर्मुख देखने पर राग और पर्याय बाहर है। यह अन्तर्मुख देखने पर अन्दर... आहाहा!

अन्तर्मुखाकार ( -सदा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसे ), अति अपूर्व, निरंजन... अति अपूर्व—अनन्त काल में कभी हाथ आया नहीं। अति अपूर्व, निरंजन निजबोध के स्थानभूत... निरंजन अर्थात् मैलरहित निजबोध के स्थानभूत... ज्ञान अपना है, उसका स्थान। सम्यग्ज्ञान का स्थान / धाम। 'स्वयं ज्योति सुखधाम'—श्रीमद् में आता है न? निरंजन निजबोध के स्थानभूत कारणपरमात्मा को... आहाहा! यह कारणपरमात्मा। ऐसा जो कारणपरमात्मा नित्यानन्द प्रभु—ध्रुव, जिसमें पर्याय का भी भाव नहीं, ऐसा जो कारणपरमात्मा नित्यानन्द वस्तु है। सत्ता है, सत्ता है, सत्त्व है, सत् तत्त्व का सत् है, उसे यहाँ कारणपरमात्मा कहा जाता है। आहाहा! कारणपरमात्मा कौन? यह आत्मा, हों!

त्रिकाली वस्तु को, रागरहित स्वभाव को, त्रिकाली को कारणपरमात्मा कहा जाता है। निरवशेष रूप से—ऐसे कारणपरमात्मा को कुछ बाकी रखे बिना। अन्तर्मुख—जरा कोई विकल्प की अपेक्षा रखे, उसे छोड़कर। समस्त प्रकार से अन्तर्मुख निज स्वभावनिरत... अपने स्वभाव में लीन सहज-अवलोकन द्वारा... स्वाभाविक ज्ञान को ज्ञान से अवलोकन से। आहाहा! भाषा गजब! क्रियाकाण्डियों को तो यह कठिन लगता है। क्रियाकाण्ड का तो इसमें (कुछ नहीं आता)। क्रियाकाण्डवालों को इसमें थप्पड़ लगती है। घोर संसार है। आहाहा!

अन्तर्मुख निज स्वभावनिरत सहज-अवलोकन द्वारा निरन्तर देखता है ( अर्थात्

जो जीव कारणपरमात्मा को सर्वथा अन्तर्मुख ऐसा जो निज स्वभाव में लीन सहज-अवलोकन उसके द्वारा निरन्तर देखता है );... सहज अवलोकन द्वारा निरन्तर देखता है, - अनुभवता है। आत्मा को ( अनुभवता है );... आहाहा! क्या करके देखता है? पहले निज परिणाम को समतावलम्बी करके,... निज परिणाम को राग से रहित करके, समता परिणाम करके। आहाहा! परमसंयमीभूतरूप... परमसंयम अन्दर में रमणता। रहकर देखता है;... उस समतारूप रहकर देखता है, वीतरागभावरूप रहकर देखता है। वही आलोचना का स्वरूप है ऐसा, हे शिष्य! तू परम जिननाथ के उपदेश द्वारा... परम जिननाथ का यह उपदेश है, उसके द्वारा जान।—ऐसा यह, आलोचना के भेदों में प्रथम हुआ। चार भेद हैं, उसमें पहला भेद है। ( श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव! )